

प्रहार स्याह रात पर

चंचल चौहान

अमिसाध प्रकाशन, दिल्ली

1972

स्वत्वाधिकार : चंचल चौहान

प्रथम संस्करण : 1972

प्रकाशक : अमिसाध प्रकाशन, दिल्ली

Prahaar syaah raat par (Collection of Hindi poems)

by Chanchal Chauhan

अपनी बात

‘यह व्यक्ति की चेतना नहीं जो उसके अस्तित्व का निर्धारण करती है, इससे उल्टा, उसका सामाजिक अस्तित्व उसकी चेतना का निर्धारण करता है।’ हमारे समाज की स्थिति भी ऐसी ही है, जिसमें कुछ वर्गों की चेतना अन्यो के अस्तित्व का निर्धारण कर रही है। वही ‘कुछ’ वर्ग हर मोर्चे पर हाथ की सफ़ाई दिखाते रहे हैं! अन्य असावधान होने के कारण, ‘विलिंग सर्पेंशन आफ़ डिस्विलीफ़’ के शिकार होते आये हैं। हम लोग कुछ बाजीगरों की जादुई करामात पर विमुग्ध रहे हैं। बाजीगर अपनी चालाकी के भरोसे दर्शकों की जेबें कतरता रहा है। उसके खेल की असलियत विरले ही जान पा रहे हैं। कुछेक जानते हैं, किंतु एक भय के कारण (कहीं शरीर में खुजली न पैदा कर दे) बाजीगर की पोल नहीं खोलते, ‘अभिव्यक्ति के खतरे नहीं उठाते’। कुछेक बाजीगर से मिलकर उसके खेल को और अधिक चमत्कारपूर्ण बनाते हैं। हमारे समाज के बुद्धिजीवी समुदाय के अधिकांश का यही रोल रहा है। हमारी व्यवस्था के कर्णधार बाजीगर ही हैं, अब तक मेजोरिटी दर्शकों ने उनकी पोल-पट्टी नहीं समझी है, इसीलिए बाजीगरों की जय-जयकार है। इन बाजीगरों के जमूरों का काम, बड़े अच्छे ढंग से, हम में से कुछ लोगों ने संभाला है। उन्हें बाजीगर बख़्शीश देता है, उनका फ़ोटो बाजीगर के साथ अख़बारों में छपता है, टेलीविज़न पर उनकी तस्वीर दिखायी जाती है। इस प्रकार आम जनता की कमाई से बाजीगर और जमूरे मुफ़्त की खाते रहे हैं। हमारा देश वैदिक काल से यही खेल खेलता चला आया है, और हम इतने तमाशबीन हैं की इस खेल से ऊबते नहीं; ललचाते हैं कि हमें भी जमूरा बनने का चांस मिल जाता। वेद का रचयिता भी कोई बाजीगर रहा होगा, उसके जमूरों ने कहा होगा कि वह ईश्वर था। वंशानुक्रम से बाजीगरी और जमूरागरी हमारी नस नस में बस गयी है, अब तक हम मुंह बाये तमाशा देख रहे हैं।

हिंदी साहित्य भी इस षड्यंत्र से मुक्त नहीं रहा है। दर्शकों में से कभी-कभी किसी ने बाजीगर की चालाकी चिल्ला कर बतानी चाही तो उससे मिले हुए लोगों ने उसे धमका दिया या धक्का देकर पीछे धकेल दिया। हिंदी साहित्य के पुराने प्रगतिशील

आंदोलन का हाल इसका उदाहरण है। दर्शकों का वह छोटा सा गुट बाजीगर और उसके जमूनों की चिल्लपों के बीच दब गया। ऐसे दर्शक उपेक्षित हों तो पूरे जेब कटाने वाले उस वर्ग की यह विडंबना ही है। फिर भी उस वर्ग के हितैषी चाहेंगे कि बाजीगर से मुक्ति मिले, वह वर्ग मुफ्त में शोषित न हो, खेल की चालाकियां जाने।

यह तो रूपक था, अपनी बात कहने का। सत्य यह है कि आज की तथाकथित महान कविता जमूनों की कविता है। व्यवस्था से जुड़े ख्यामदील साहित्यकार जानते हैं कि वे महान और अमर किस मार्ग का अनुसरण करने से बन सकते हैं, विविधविद्यालय के पाठ्यक्रमों में उनका कितना और व्यक्तित्व किस प्रकार घुसेड़ा जा सकता है आदि आदि। इन साहित्यिक 'पालागनवादी' जमूनों ने अनेक भ्रामक द्वापं समाज को दी हैं, वस्तुतः हमें भयंकर कगार पर लाकर खड़ा कर दिया है! एलियट और पाउंड से उधार लिया हुआ क्लोरोफार्म मानवतावादी विचारधारा पर अपना काम कर गया। बेहोशी की दशा में उसका ग़लत आपरेशन करके उसे विकलांग बना दिया गया। व्यक्ति को उसके व्यक्तित्व से, 'अन्य' व्यक्ति से, समाज से इतिहास से, कर्मठता से, क्रियाशीलता से जानबूझ कर अलग कर दिया गया। इसके लिए टी. ई. ह्यूम और एफ. एच. ब्रैडले का दर्शन 'टूल' बनाया गया। समस्याओं का हल प्रगति में नहीं, अतीत (आदिम युग?) में ढूंढा गया! 'पास्टनेस आफ़ द पास्ट' को वर्तमान की नयी बोटल में डालकर पेश किया गया और इस प्रकार अग्रगामी विचारधारा के शिलाद्वार पर बड़ा सा पत्थर रखकर आधुनिक सुग्रीव ने तारा से अवैध संबंध स्थापित कर लिये।

हिंदी की कविता जिसे इस व्यवस्था ने अब मान्यता दी है अपने में ऐसा ही इतिहास छिपाये बैठी है। हमारा जन दिग्भ्रमित हुआ है, उसे धर्म, संस्कृति, परंपरा तथा अतीत की भोजपत्रीय समृद्धि की अफीम खिलाकर या तो मार दिया गया है या अशक्त बना दिया गया है, इसीलिए तो 'अवां गार्द' से कहीं भी तो इस व्यवस्था को खतरा नहीं है। हिंदी की सत्तरोत्तरी पीढ़ी के सामने यह चैलेंज है, शोषण की हर साज़िश का यदि पर्दाफ़ाश हो सका तो हमारा गार्द शक्तिशाली होगा क्योंकि इसी से जन हमारे साथ होगा, उसका 'व्यक्तित्वांतर' हमें करना होगा, अकेले मुक्तिबोध से कार्य नहीं चलेगा, यहां शीतयुद्ध है, 'अपनी मुक्ति के रास्ते / अकेले में नहीं मिलते'। अकेले लड़ने वाले हमारे कई साहित्यिक गुरिल्ला लाश बन गये हैं या जमूनों की अदाकारी करने लगे हैं ! इसीलिए नये संघर्ष की सही दिशा का नक्शा सामने रखकर जूझना होगा। असामाजिकता और सामाजिकता की सही परिभाषा मस्तिष्क में गुंजानी होगी। 'शक्ति की मौलिक कल्पना' करनी होगी।

अब तक हमारे साहित्य में सिर्फ़ उसे प्रश्रय मिला है जिसने व्यापक मानवता

को जाने अनजाने अंधकूप में धकेला है। वे चाहे तुलसीदास रहे हों या फिर अज्ञेय। एक, 'होइहि सोइ जो राम रचि राखा' कह कर अज्ञानवश चिरकालिक ब्राह्मणवादी शोषक व्यवस्था से प्रतिबद्ध हो गया तो दूसरा 'वह तो सब कुछ की तथता थी' का छौंका लगाकर लगभग उसी प्रवृत्ति का परिचय दे रहा है। आम आदमी जिस ब्यवस्था से कंकालवत हो गया, उसकी चरण-वंदना कर उसे बढ़ावा देने वाले कवि, साहित्यकार दरबारी चारणों की कोटि के हैं, जन उन्हें क्यों पूज्य माने? अंधकूप से उबरने वाली हर प्रवृत्ति को कभी धर्म या अध्यात्म के नाम पर, कभी देश-प्रेम के नाम पर, कभी कला के नाम पर समूल नष्ट किया जाता रहा है। जिस साहित्य ने हमारे संपूर्ण जन को कीर्तनिया बना दिया है, 'मंगल भवन अमंगल हारी' की तोतारटंत से या जागरण से ही मानवता के दुख दूर करने की भ्रांति को और मज़बूत बनाया है, उस साहित्य का सही आकलन करने का समय आ गया है।

सही दृष्टि के लिए गंभीर विचारबुद्धि, 'रैशनैलिटी' और 'रीज़न' की आवश्यकता है, सिर्फ भावावेश में आकर ही हम कीर्तनिया संस्कृति और पाखंडपूर्ण परंपरा की इस मरी बंदरिया को चिपकाये रखने की भूल कर रहे हैं। ग़लत भावावेश हमारी उन्नति में बाधक है। हमें इस भावावेशीय 'इन्फ़र्नो' के विभिन्न 'सर्कलों' में डाले रखने के लिए एक पूरा वर्ग साजिश कर रहा है, शोषित वर्ग की चेतना लैम्प में कैद कर दी गयी है, उसके चारों ओर लौ के ऊपर मोटे अंधकार की लोहित तहें चढ़ा दी गयी हैं! अपने प्रिय कवि मुक्तिबोध की पंक्तियां याद आ रही हैं, 'बुजुर्गों ने, सत्ताधारियों ने, संचालकों ने, आर्थिक शक्ति से सम्पन्न वर्गों ने समझ के प्रत्येक स्तर पर प्रकट और अप्रकट, सूक्ष्म और स्थूल, भ्रष्टाचार का विधान कर रखा है' (एक साहित्यिक की डायरी, पृष्ठ: 31)। इस विधान को कितनी आंखें देख पा रही हैं? लैम्प की लौ में 'बद्धजीव' की आंखें तो अंधेरे की मोटी तहें भेद कर क्या उस काली करतूत को देख पाती हैं? इसी का फल है कि जो जहां है वहीं 'मामेकं शरणं ब्रज' के आह्वान पर जल रहा है, पूर्वजन्म के कर्म का फल समझ हर स्थिति को भोगने की क्षमता पैदा कर लेता है। यह कब तक चलेगा?

यदि प्राचीन साहित्य ने धर्म की आड़ लेकर जनरुचि को भ्रष्ट और अशक्त बनाया तो तथाकथित नये साहित्य ने उद्देश्य को लेकर नये फ़ार्मूले निमित्त किये। उद्देश्य उनका 'एंटी-सोशल' ही था। प्रमाण? पुराने साहित्य ने समाज में रुढ़िवादिता, भाग्यवादिता, अकर्मण्यता (तुलसी के *रामचरितमानस* से ले कर *कामायनी*, *साकेत* आदि तक) तथा मानसिक भोगविलास (विद्यापति, बिहारी आदि से लेकर हरिऔध, रत्नाकर आदि तक) जैसे 'महान' प्रभाव पैदा किये! आधुनिक साहित्य ने या तो उक्त प्रभावों को नये रूप में और खुली छूट दी जैसे अज्ञेय ने 'श्रेय नहीं कुछ मेरा' या 'उसी के हो लो' द्वारा वही किया जो तुलसी ने 'भजिय राम सबु काम विहाई' या 'उमा दारु

जोगिता की नाई/सबहिनै नचावत राम गुसाई' से किया और बच्चन, नरेंद्र शर्मा, भारती, गिरिजा कुमार माथुर तथा अकवियों ने विद्यापति, बिहारी की भोंड़ी आवृत्ति ही की। औरों ने पश्चिमी प्रतिक्रियावाद के द्वारा गढ़े नुस्खों -- ऊब, अकेलापन, भीड़ की उपेक्षा, सेक्स का नंगापन, व्यक्तिवादिता, अहं की वरीयता, कुंठा, संत्रास, एक्सर्डिटी, आदि को 'प्रोपेगेट' करके समाज का अहित किया! साहित्यकार ने अपने को भीड़ से 'सुपीरियर' समझा, इसीलिए वह भीड़ से नफ़रत करने लगा, उसे आदमी लाश नज़र आने लगे, वह आत्मकेंद्रित हो गया। आज की प्रतिष्ठाप्राप्त कविता (या कहानी भी) इन्ही फ़ार्मूलों पर गढ़ी गयी है। प्रतिक्रियावादी पाउंड, एलियट, येट्स की इन अवैध संतानों ने जड़ता की जड़ को ही सींचा और पुष्ट किया है, व्यापक मानवतावादी परंपरा को चोट पहुंचायी है। 'क्षुब्ध काले बादलों' का 'बादल राग' तो इने-गिने ही गाने का साहस कर सके हैं। आज के अधिकतर कवियों और साहित्यकारों ने आम आदमी में अकेलेपन, ऊब और हताशा, निराशा तथा आत्मनिर्वासन या एक्सर्डिटी का इंजेक्शन लगाया है। इसका उद्देश्य वर्ग-चेतना तथा सामूहिक भावना को आघात पहुंचाना तथा उसे दुर्बल बनाना रहा है। यह प्रक्रिया आज भी चल रही है। उदाहरणार्थ, केलिफ़ोर्निया विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर हर्बर्ट मार्क्युज़ विश्व को बताना चाहते हैं कि 'आज के समाज में प्रागैतिक सामाजिक परिवर्तन लाने तथा मजदूरवर्ग को एकाधिकारी पूंजी के चंगुल से छुड़ाने वाली कोई ताक़त (force) विद्यमान नहीं है' (सोवियत रिव्यू - अंग्रेज़ी, क्रमांक 24, मई 1972, पृ. 12)। हमारे साहित्य का बहुत बड़ा भाग इसी विचारधारा का पोषक रहा है और आज भी है। 'शोषणसभ्यता' उसे ही प्रश्रय देती है, साथ ही व्यापक प्रचार मीडिया (प्रेस, टेलीविज़न, आदि) द्वारा तथा नये प्रतिमानों द्वारा प्रतिष्ठित कर उसे समाज की नस-नस में भरा भी जाता है। इस साज़िश को बल देने के लिए दो प्रकार का साहित्य जन तक पहुंचाया जाता है - एक वह जो साधारण जन की अभिरुचि का पतन करे जैसे, पद्यबद्ध लतीफ़े, सैक्स को उभारने वाली कविताएं या कहानियां; दूसरे 'महामूर्खन्य' साहित्यकारों द्वारा लिखित उलजलूल साहित्य, जिसकी पकड़ आदमी के पास न हो, वह 'गोदो' की प्रतीक्षा ही करता रहे तथा उसका दिमाग़ ठस से ठसतर होता जाये या अकेलेपन, ऊब, संत्रास, एक्सर्डिटी, आत्मनिर्वासन की छूत की बीमारी का शिकार हो जाये। दोनों प्रकार से जन-अहित इनका लक्ष्य है, नहीं तो व्यावसायिक पत्रिकाएं तथा दैनिक अख़बारों के रविवासरिय परिशिष्ट 'साप्ताहिक भविष्य' (जो कभी किसी केस में भी सच नहीं निकलता) न छापते! इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि हमारी ही जेब काटकर हमें कितना गुमराह किया जाता है। वे चाहते हैं कि हमारे उत्पीड़ित शोषित जन बौद्धिक स्तर पर भी गिरे हुए रहें, उन्हें उठाने से मुफ़्तखोरों के लिए ख़तरा पैदा हो जायेगा। इसीलिए सुंदर नारियों के आकर्षक तथा सेक्सीय रंगीन चित्र छापे जाते हैं, कला,

संस्कृति और धर्म की दुहाई दी जाती है, यात्राओं का सचित्र लेखा-जोखा छापा जाता है! ख़याल अच्छा है! धंधे का धंधा और स्वार्थ का स्वार्थ! 'दुहुंड हाथ मुद मोदक' ।

हम रोशनी-रहित कोठरी में खटमलपूर्ण चारपाई पर सो रहे हैं, समय-समय पर कोई चुपचाप नया क्लोरोफ़ार्म सुंघा जाता है, उमसभरी कोठरी में पसीने से लथपथ हम सो रहे हैं, खटमल अपना धर्म निभा रहे हैं, कौन किसे जगाये? सबको बताया जा रहा है कि 'तुम एकाकी हो, तुम डेनमार्क में अकेले हेमलेट हो, तो सोने वाला बेचारा उठकर क्या करे? मेरी चेतना में हज़ारों हेमलेट घूम रहे हैं, जो 'आउट आव ज्वाइंट' समय को सेट-राइट करने को जूझ रहे हैं, वे अकेले नहीं हैं, उन्हें क़ब्र खोदने वाले विदूषक ('ग्रेव डिगर्स') 'डिविनिटी' और 'प्रॉविडेंस' से समझौता करने की सलाह देकर भ्रमित नहीं कर सकते हैं। उनके सामने सारी तस्वीर साफ़ है, वे देख रहे हैं कि सत्तामय में चूर 'किंग लियर' ने सत्यवादिनी 'कॉर्डिलिया' का हिस्सा भी चापलूस 'गोनरिल' तथा 'रीगन' को दे दिया है। इस बंटवारे का अंजाम अभी हमारे 'लियर' को पता नहीं है। अब 'कॉर्डिलिया' फांसी खायेगी तो इसलिए कि न 'किंग लियर' रहे और न 'गोनरिल' और 'रीगन'। एक नयी व्यवस्था कायम हो जिसमें ऐसे मौके ही न आयें कि सच्चाई को फांसी लगे।

हमारा साहित्य अगर इस दिशा में हो रहे चेतना के संघर्ष को महसूस नहीं करता और कराता तो वह फालतू है, 'एंटीक' वस्तुओं की तरह सिर्फ़ देखने की वस्तु। उसे देखते रहने से हम सब 'स्टैटिक' हो जायेंगे, गतिशील नहीं। गतिशीलता का ही नाम जीवन है, जड़ता मृत्यु है। गतिशील पहिया ही संघर्ष करता है जड़ पटरी से और धुरी से। इस संघर्ष से भय क्यों? अपनी कविताओं के विषय में क्या कहूँ? वे अनेक गतिशील पहियों की संघर्षित 'रिद्धम' से अनुप्राणित हैं, उनसे यदि धुरी छिलती हो या पटरी गर्म होती हो, तो पहियों का क्या कुसूर? उनका लक्ष्य वृहत्तर जन के संवेदन का 'स्टेशन' है, 'राहों के अन्वेषी' होने का दम्भ नहीं, और न ही भटकाव की किसी स्थिति में यात्रियों को डालने की कोई दुष्ट आकांक्षा, जिससे हम सब आक्रामित हुए हैं। इनमें हमारे समाज के यथार्थ की उधेड़बुन है, इसे पाठक महसूस कर सकें, तो श्रम सार्थक होगा।

नयी दिल्ली, मई दिवस 1972

--चंचल चौहान

एक अल्टीमेटम

आयें तो आयें
बहारों से कह दो, 'समय हो गया है।'

वे सपने सुनहरे
असली नहीं थे
आकाश तो था, पर हम तो यहीं थे !
नींद खुल गयी
हम पड़े हैं ज़मीं पर
चांदनी रात को तो क्षय हो गया है !
'समय हो गया है।'

कांपकर शिशिर ने ज़िंदगी गुज़ारी
पत्थरी हवा ने बड़ी चोट मारी
तूफ़ान ही की अब फ़सलें उगेंगी
नियामक मसौदा यह तय हो गया है
'समय हो गया है।'

चकाचौंध ने
कब देखी हैं आहें,
आंधी
हमें शायद दे कुछ निगाहें !
रूठ हम गये तो
बहारें न होंगी
इंतज़ार को हमसे भय हो गया है
'समय हो गया है।'

मुक्ति का प्रयास

कैसे करें किलोल
धंसे हैं
उमसी उमसी धूल में

बलि होने को
बंधे हुए हैं हम षड्यंत्री टांग से
जैसे मुर्गा अनुबंधित हो
सुबह सुबह की बांग से !

सुलझा हुआ सवाल
फंसे है फिर भी उलझी भूल में !

पायदान की तरह
जिंदगी चिपकी अपने काम से !
इसीलिए कीचड़ धमकाती
बदरंगी अंजाम से

साथ चलो तो
आग लगा दें
कांटोंभरे बबूल में !

जेठ का समय-बोध

दिन कुत्ते की तरह
हांफ कर हार गया

लार चुआते से दुपहर को
कोई निर्दय नटखट बालक
पत्थर मार गया !

गर्दभरी चितकबरी लू में
अपराहन रहा जलता
उबासियां लेता सवाल भी
रोज़ रहा टलता

मसूबों को समझौता ही
लो ! कर क्षार गया !

भिखमंगिन सी शाम जेठ की
दुख से खांस रही
भुनभुन करती रही पहर भर
चढ़ी उसांस रही
रिरियाता सा प्रात
रात में
हो बीमार गया !

अंगारों का सृजन

अंगीकार नहीं होता है
 फूल किसी को कल तक का
 इस गलीज से भरी व्यवस्था को मन कैसे स्वीकारे ?

नयी कोंपलें उगें
 नयी डालें बन जायें हमजोली
 रात न आये वही लौटकर
 जो हमने कल है सो ली
 इसीलिए मैं जाग रहा हूँ
 ऐसी आग जलाने को
 जो हो लैस नयेपन से, इस बूढ़े क्रम को दुतकारे !

खाजग्रस्त घोड़े सा सूरज
 पीट रगड़ता रोज़ यहीं !
 मैले से चिथड़े ओढ़े
 संध्या खुश दिखती कभी नहीं !
 लाशें खाकर गिद्ध
 लौट आये, लो! ऊंचे नीड़ों में
 आसमान को घेर रहे हैं
 अब भी बुढ़ियाये तारे !

खिड़की से बाहर आकर
 यदि नथुने चाहें सांस नयी
 उलटे पीने पड़ जाते हैं
 कड़वे कड़वे घूंट कई !
 रात देखती है हम सबको
 साज़िशभरी निगाहों से
 अस्थिपंजरों में घुसकर हम क्यों न उगा दें अंगारे !

एक सेनानी की प्रेतात्मा

जाड़े की रात
घर का अकेलापन
कि किसी ने झट से
दिमाग के कमरे कि चटखनी खोल दी
जो अंदर से बंद थी !

सहसा ! खून से लथपथ
बदहवास प्रेत ! मेरे सामने
याद आया शेक्सपीयर
हो न हो हैमलेट का फ़ादर हो यह
हो सकता है ! यहां यह भी हो सकता है !!!

कुतूहल मेरा
टकराया उत्तर बन
'यह सड़ा हुआ डेनमार्क है
या कि हिंदुस्तान है - फ़र्क क्या है ?
राष्ट्रीय त्योहारों पर
महापुरुषों की जयंतियों पर
मनाया जाता है जश्न धूम से
(गोया हम क्लॉडियस के डेनमार्क में ही हों)

रात के कालेपन को घटाने के लिए
जलायी जाती है रोशनी इमारतों पर
(गंगू चमार की झोंपड़ी अभी भी अंधेरी है)
नयी दिल्ली की गुनगुनी रज़ाई में
प्रसुप्तक गरमाहट है
लेटे ही लेटे

सारे देश को सुनायी जा रही
 आत्मनिर्भरता की मीठी लोरी ।
 (पूँजीपतियों को आत्मनिर्भर बनाना है
 बाकियों को
 कागज़ी समाजवाद की अफीम खिलाना है)

एक बात पूछूं
 जबाब दोगे ?
 उस दिन क्यों गाया था रेडियो पर
 मेरे लिए खोखला शोकगीत तुमने ?
 और भी गुमराह होंगे
 इसलिए चुपचाप सो जाओ
 मेरे बेईमान दोस्त
 क्योंकि तुम्हारे लिए
 कहीं कोई पुर्जा गड़बड़ नहीं है ।

शिशिर का शीत है बाहर
 यानी पटरियों पर
 कोलतारी काली सड़कों के चरणों में
 बर्फ बनाया जा रहा है जन का खून ।
 मैं बिल्ली के सर चढ़कर
 रो रहा हूँ यहां ।

स्याह रात ने
 बेहोश कर रखा है
 हारे थके जन को
 जादुई सिरिन्ज से
 निकाला जा रहा है उनका खून
 और तुम !
 तुम शोर करना भी नहीं जानते
 महामौन के प्रतिष्ठाता धूर्त ! सो जाओ
 क्योंकि तुम्हारे लिए

कहीं कोई पुर्जा गड़बड़ नहीं है।

सोचता हूँ
 मैं नाहक मरा
 मैंने नाहक विधवा किया अपनी औरत को
 दो बच्चों की मां
 उसके दुधमुंह लाड़ले
 अब कहां से पायेंगे डिब्बे का दूध
 लो! देखो, कुम्हलाये हुए चेहरे उनके
 जैसे पंचवर्षीय योजनाओं से
 योजनाबद्ध पिटे हों वे

सोचता हूँ
 मौत का वह आदर्श
 झूठा बेमानी था
 तुम कह सकते हो मुझे अराष्ट्रीय
 मगर याद रखो
 मैं ज़िंदा था तो राष्ट्रीय था
 मर गया तो प्रेत हूँ
 प्रेत किसी राष्ट्र का नहीं होता
 वह देश-काल से परे होता है

सोचता हूँ,
 क्यों नहीं मिलती
 हमारे लोगों को ऐसी सूक्ष्म दृष्टि ?
 जबकि मुझे अब सब कुछ
 साफ़ नज़र आता है
 मैं देख रहा हूँ वे कीटाणु
 जिनसे होता है
 आदमी का चूषण
 मुझे दिख रहे हैं यहां जीवित खर दूषण
 दिख रहा है

खाये गये आदमियों की हड्डियों का ढेर
 तुम्हें इन पचड़ों से क्या ?
 तुम आदमियत से अप्रतिबद्ध हो
 मेरे बेईमान दोस्त !
 तुम सो जाओ
 क्योंकि तुम्हारे लिए
 कहीं कोई पुर्जा गड़बड़ नहीं है

देखता हूं
 हमारे लोगों को बहलाया जाता है
 सौतेला बच्चा समझकर
 'गणतंत्र दिवस पर झांकियां देख बेटे,
 वह देख एक झांकी
 हिंदुस्तान की तस्वीर फूलों से बनी है' ।
 भीतर का काला सड़ा सा प्लाइवुड
 यानी असलियत देखना मना है
 तुम देख भी नहीं सकते
 क्योंकि तुम्हारी आंखें
 अखबार, रेडियो और टेलीविज़न से
 बनायी गयी हैं
 किसी ने तुम्हारी मौलिक आंखें
 फोड़ दीं सरे बाज़ार
 और तुम्हें पता तक नहीं ?

मरने के बाद
 मिल गयीं मुझे तो मेरी अब तक न बरती गयी आंखें
 इसीलिए मैं देख रहा हूं सूक्ष्म, सूक्ष्मतर साज़िश
 हवा में मिलकर
 सूँघता हूं काली करतूतें
 मैं देख रहा हूं
 अनगिन मोटे पीले सांप
 जो भेष बदल लेते हैं दिन में

रात को डसते हैं भोले जन को
 देते हैं आश्वासन
 एक और नागदेवता
 बेवकूफ बनाती है
 कोई नागकन्या

मगर ! मगर ! मैं तो प्रेत हूँ
 सिर्फ देख ही तो सकता हूँ!
 मैं मर कर हो गया जालमुक्त
 मगर
 मेरे दो भाई और हैं
 (चुसे जा रहे अपने ही लोगों से)
 एक भाई जूझ रहा है खेतों में
 कि जिसकी चमड़ी को पीटता है
 स्याह सूरज,
 सूरज जो सोखता है गांव के तालाब को
 पैदा कर देता है दरारें एकरसता में
 मिट्टी की छाती के टुकड़े अलग अलग हैं
 मगर जुड़ेंगे जरूर एक न एक दिन ।
 दूसरा भाई चला गया है शहर
 बुनता है कपड़ा
 चलाता है कल कारखाने
 औरों के लिए
 (स्वयं रहता नंगा)

तीसरा भाई कोई नहीं
 वे ही दोनों देते रहे खून
 मुझे ज़िंदा देखने के लिए
 वे ही दोनों लुटाते रहे
 गाढ़े पसीने की अपनी कमाई
 कि कोई उत्पीड़ित जन हो सके मुक्त
 ज़िंदा रह सके इंसान

जो प्लेग का मारा

तीसरा भाई कोई नहीं
बाकी तो जान लेवा हैं
देते हैं दुष्ट 'स्लो प्वाइज़न'
खटमल के बच्चे !
जोंक की औलाद !

मत समझो कि मै मर गया हूं
मेरा भी होगा 'रिज़रेक्शन'
शब्द का आसव जन को
पिलाऊंगा अग्निलौ की चमकती जीभ से
मौन तोड़ना ही होगा
अभी समय है

शीशम के पत्ते
करते हैं सायं सायं
गूँज गयी हर ओर
आधुनिक गीता की धुन

यह प्रेत, पता नहीं, क्या गा गया?
'मौन तोड़ना ही होगा
अभी समय है अभी समय है
निर्णय लेने का यही तो क्षण है!'

मीनार का ड्य़ं

पसीने में सराबोर
 जेठ की दुपहरी
 मगर
 मैं बढ़ रहा हूँ आगे और आगे
 कुछ राहगीर
 बेहताशा दौड़ रहे हैं पीछे
 (बुज़दिल हैं वे)

इतने में
 रुकता है एक आकर्षक व्यक्तित्व
 मेरे सामने
 सफेद सी दाढ़ी
 खादी का अचला, पैरों में खड़ाऊँ !
 कहता है वृद्ध, 'सुनो!
 तुम जिस रास्ते जा रहे, वत्स !
 एक समतल रास्ता है
 किसी ऊँचाई पर तुम्हें नहीं पहुंचायेगा!'

प्रवचन में उसके
 सूँघता मैं कोई बू
 (खासकर 'ऊँचाई' शब्द में)
 आगे बढ़ने का रास्ता
 इसे है पसंद क्यों नहीं ?

आगे वह कहता है-
 'अगर तुम्हें कही नहीं जाना है
 तो मुझे पीछे
 यह रास्ता
 जहां से हुआ शुरू
 वहीं से दायें मुड़ते
 ऊबड़ खाबड़ विषम लगता भले ही
 मगर
 वह हरा भरा रास्ता था
 तुम
 मार्ग के कष्टों से बच सकते थे

चलो, चलते हैं-
 वहां है एक मीनार चिरकालिक
 जहां मिलती है लोगों को
 आत्मा की शांति,
 वहां की हवा में उड़ती है सुगंध
 सैर सपाटे या पिकनिक के लिए
 खासी अच्छी जगह है' ।

मैं जो दौड़ रहा था
 बेहताशा आगे
 कि अचानक यह आदमी
 जो दिलाना चाहता है आत्मा को शांति
 क्या है ? कौन है ?

हो सकता है, दुपहरी में
 छलावे ने धर लिया हो रूप अद्भुत !
 मगर मुझे शोध से लगाव है
 तह में पहुंच कर
 देखना है परखना है
 और फिर हर्ज़ ही क्या है

मीनार देखने में

मगर,
 मगर इस आदमी का विश्वास
 हो सकता है घातक
 मैं हूँ सतर्क, सशक्त
 'लो देखो ! यह है वह जगह
 यह है वह मीनार
 इसकी ऊंचाई निरखो
 किसी भी देश में नहीं है
 इतनी ऊंची मीनार
 इसके आसपास के वृक्षों
 कुंजों व लताओं की लिखत बांचो
 मैं हर अग्रगामी पथिक को
 लाता हूँ यहां
 यहां बगल में मंदिर है
 है गुरुद्वारा भी,
 चर्च है, यहां तक की मस्जिद भी है
 कीर्तन और प्रेयर या नमाज़ का पूरा है प्रबंध,
 और यहां छाया है घनी, बहुत घनी
 हवा में सुगंध है
 बैठो ना '

कैसा है यह आदमी उज़बक
 मुझे बिठाकर शिला पर यहां
 खुद कहीं चला गया
 छोड़कर अकेला मुझे

हो न हो
 गया हो वहीं वह, फिर से
 लाने औरों को भी
 इसी जगह

खैर,
 चुपके से आंख पर
 मैं हूँ लगाता जादुई ऐनक
 अजीब है दृश्य !
 औरों को क्या मालूम ?
 मैं क्या हूँ देखता ?

मीनार जो सबको लगती सुवर्णमयी
 कच्ची काली मिट्टी से बनी है
 इसकी नींव में दबे है भोजपत्रों के अम्बार
 अगल बगल इसके
 बट, पीपल, पाकरी, रसाल
 खड़े है ऊंचे
 और भी हैं पेड़ कुछ आयात किए हुए
 यहां चल रहा भंडारा किसी का
 दान की महिमा
 गायी जा रही लाउड स्पीकर पर
 भिखमंगे बनाने की साज़िश
 यहां है ज़ोरों पर

मीनार की ऊंचाई पे फिदा है
 कीर्तनियां जनता
 करती है दंडवत मीनार को ही
 इसका मैनेजर कहता सभी से
 'चढ़ो इस मीनार पर
 यह 'सुरग-नसेनी' है
 मत देखो झांक कर बाहरी दुनिया में
 एक दरवाज़ा अंत में सिर्फ है
 जिसकी चौखट हवा में झूलती
 (आत्महत्या का खुला प्रबंध है)

हमारे अपने लोग !
गा रहे झूम झूम
तथाकथित पढ़े लिखे, पी.एच.डी., डी लिट्
ढोलक की थाप पर हिला हिला सिर
'हरे राम ! हरे किसन!'

पास में मेरे बैठा लड़का एक
नंगा और काला सा
हंसी के मारे उसका बुरा हाल
क्यों हंसता है यह लड़का नंगा ?
'क्या तुम पागल हो ?
मैं पूछता हूँ,
हंसी रोक वह देता है उत्तर,
मैं...मैं... बस यूँ ही हंसता हूँ
बात तो रोने की है
मगर मैं वह जानता हूँ
जो तुम नहीं जानते

'ऊपर छलावा है, यवनिका है
भीतरी यथार्थ तुम नहीं जानते ।
सुनोगे मुझसे रहस्योद्घाटन ?
तो चलो मीनार के उस पार
यहां तो कीर्तनियों का शोर है ।'
मैं सुन रहा हूँ माडर्न ध्रुव से रहस्य वार्ता
'ये... ये जो कीर्तन कर रहे झूम झूम
अभी अभी आरे से
चीरे जायेंगे
इनके कोमल मांस का
बनेगा परसाद
इनके लहू का बनेगा पंचामृत
हारे थके यात्री पियेंगे विस्मृति का जल
सब कुछ अतीत बन जायेगा

आज़माना है तो चलो
 बंटेगा थोड़ी ही देर में परसाद
 मगर खाने से पहले देखना गौर से ।’

वह नंगा लड़का मेरे साथ है
 रहस्य की परतें खुल रही हैं
 धीरे धीरे बताता है वह
 गज़ब के कारनामे
 ऐसी दिव्य दृष्टि
 कहां से पा गया यह ?
 लो, बंट रहा है परसाद
 मेरे भी सामने
 ढाक के पत्ते पर रखी गयी कोई चीज़
 नंगी आंखों से प्रतीत हुआ वह
 रवे का हलवा
 पंचामृत दोने में सफेद दूधिया
 लड़का बोलता है -
 ‘यह जो देख रहे हो गुलत है
 पहन के देखो सत्य का चश्मा’

मैं अब देखता,
 वाकई परसाद की चीज़ें
 न हलवा है न दूध
 साफ़ साफ़ रखा है जन-मांस का लोथड़ा
 दोने में है गाढ़ा खून !

एक विचित्र रहस्योद्घाटन !
 कीर्तनियां लोगों का नाटक
 एक भयंकर ट्रैजिडी
 मीनार की आड़ में
 खाता है जो कोई परसाद यहां का

दिग्भ्रमित हो काटता है चक्कर
मीनार के
और उसका भी अंत होता है भयानक।

में
मैं हूँ
मेरे साथ वहीं नंगा लड़का है
चश्मदीद गवाह
असली संघर्ष गलियों में है
क्योंकि वहां भी मीनार वही
दिख जाती है रह रह

में हूँ
मेरे साथ है वही नंगा लड़का
गांव गांव
बस्ती बस्ती
नंगा ध्रुव करता चलता है प्रवचन
मिल रहे हैं जन कर्मठ, सत्यप्रिय

मीनार वाला षड्यंत्र
ढहा ही देना है
देखना,
वहां निकलेगा
अस्थि पंजरो का अब तक न देखा गया
विशाल ढेर

हत्यारा माहौल

अजीब है यह माहौल,
जो बनकर काला कलूटा भयंकर सा आदमी
अदृश्य यंत्रों की सहायता से
आक्सीजन ही सारी
खींचे ले रहा हवा में से
खुद लगाये हुए
नाक से सिलिंडर
प्राणवायु भरा

कहता है लोगों से
'हो रहा एयर पाल्यूशन।'
क्या इसलिए की गरीब आदमी
रोटियां बनाता
रेल की पटरी से उठाये कोयले जलाकर ?
बड़ा, बड़ा आदमी
न फैलाता धुआं, न घोटता दम
न जलाता, कुछ !!!
(इंसानों का जीवंत ढांचा
जलाता है कौन ??)

भयंकर आग में
आदमी झोंकने को
कैसे कैसे यंत्र किये हैं ईजाद
धर्म से लेकर बम तक
जिससे हो सके

आदमी द्वारा आदमी का वध

मुंह से निकली बात
कि किसी ने घोंट ही डाला मेरा दम
दबाया कसकर गला
जिससे न चीख सकूं मैं

हत्यारों ने
फंदे डाल दिये गले में अदृश्य
उधर
मेरे ही जन के
जिससे न चीखे उनमें से कोई
सिर्फ इशारों की छटपटाहट है
हाथों से मैं हूं बुलाता उनको
करता हूं इंगित

त्यागो लाचारी, करो संघर्ष
हत्यारे माहौल की नाक में
कसकर मारो घूंसा
जन को उबारो
आओ पास मेरे
न मैं अकेला, न तुम अकेले

नया बुलडोज़र

म्युनिस्पैलिटी ने
नया बुलडोज़र ख़रीदा है
'पावर फिनिशर'

रंग रोगन अच्छा है
मगर
कहते हैं, काम इससे भी वही लिया जायेगा।

जो था पुराना, दर असल
हो गया था अनफिट
नये से वही काम अच्छी तरह होगा

मगर
सड़क में अब भी रखे जायेंगे गड्डे
समतल नहीं बनानी है
कोलतारी सड़क

किसी दिन वे ही गड्डे
टकरायेंगे बुलडोज़र से
और
एक न एक दिन कर देंगे उसे भी अनफिट
तोड़ देंगे वे ही
इसके पुर्जे ।